THE TIMES OF INDIA

Date: 16-03-17

Speed up justice

End of Centre-judiciary impasse should be followed by quick appointment of judges

The deadlock between executive and judiciary may finally have been overcome, with the Supreme Court finalising a Memorandum of Procedure (MoP) for appointment of judges to various courts in the country. The draft MoP had eluded common ground for over a year between the two sides, leading to an impasse over appointments. Long judicial delays place a question mark over all of India's justice system and thereby hurt governance. An end to the deadlock should pave the way for a much-needed filling up of vacancies in higher and lower courts.

If a conciliatory note is now struck between government and judiciary, credit is due to recently appointed Chief Justice of India (CJI) JS Khehar for brokering a compromise. The apex court collegium has reportedly agreed to the clause that gives power to the Centre to reject any appointment to higher courts on the ground of national security. The government in turn will have to give in writing the specific reasons for application of the particular clause. The collegium has also reversed its stance and consented to the setting up of secretariats in the Supreme Court and each high court for maintaining databases on judges, which will assist in selection of judges.This should end the saga of confrontation that began after a constitution bench headed by Justice Khehar struck down the National Judicial Appointments Commission in October 2015. The bench had directed the Centre to frame a new MoP in consultation with CJI in December 2015. The finalisation of the draft MoP will bring about a semblance of balance between the judiciary's independence and transparency in judicial appointments.

A consensus on MoP should be followed up by quick appointment of judges to deal with the enormous backlog of pending cases. The ministry of law and justice has admitted that as of July last year, 24 high courts were functioning with only 615 out of the total sanctioned strength of 1,079 judges. Centre and state governments account for nearly 70% of cases in courts, they must now chip in and prioritise serious cases over minor ones. The apex court should also usher in more reforms to speed up court cases, such as by creating a system to filter PILs and deter the filing of frivolous cases, or by abolishing the colonial-era practice of long court vacations.

दैनिक भास्कर

Date: 16-03-17

आर्टिफिशियल इंटेलिजेंस से बदलेगा बिजनेस का तरीका; एक सर्वे में 84 फीसदी कंपनियों ने कहा- यह प्रतिस्पर्धा के लिए होगा जरूरी

टीसीएस की ग्लोबल ट्रेंड्स स्टडी रिपोर्ट, कंपनियों के हर विभाग में बढ़ रहा है इसका इस्तेमाल

भविष्य आर्टिफिशियल इंटेलिजेंस यानी एआई का है। साल 2020 तक यह कंपनियों के बिजनेस का तरीका बदल देगा। करीब 84% कंपनियां मानती हैं कि प्रतिस्पर्धा के लिए एआई जरूरी है। देश की सबसे बड़ी आईटी कंपनी टीसीएस की एक स्टडी रिपोर्ट में यह बात सामने आई है। टीसीएस की सातवीं 'ग्लोबल ट्रेंड्स स्टडी' के लिए 13 इंडस्ट्री सेक्टर के 835 शीर्ष एक्जीक्यूटिव्स से बात की गई। इनकी कंपनियों का सालाना औसत रेवेन्यू 20 अरब डॉलर (1.32 लाख करोड़ रु.) है। स्टडी में पता चला कि आर्टिफिशियल इंटेलिजेंस कंपनियों के हर विभाग में जगह ले रही है। आईटी डिपार्टमेंट इसे सबसे ज्यादा अपनाता है। इसका इस्तेमाल ऑटोमेशन और कर्मचारियों की क्षमता बढ़ाने में हो रहा है। इससे वे स्ट्रैटजिक कामों पर ज्यादा समय दे पाते हैं। आर्टिफिशियल इंटेलिजेंस में निवेश का बिजनेस पर असर सीधा दिखता है। टीसीएस के चीफ टेक्नोलॉजी ऑफिसर के.अनंत कृष्णन ने कहा, 'जैसे-जैसे कंपनियों में आर्टिफिशियल इंटेलिजेंस की समझ बढ़ेगी, उन्हें इसके महत्व का भी अहसास होगा। हर इंडस्ट्री सेक्टर में डिजिटल का इस्तेमाल बढ़ रहा है। ऐसे में किसी भी संस्थान के लिए एआई महत्वपूर्ण कंपोनेंट होना चाहिए।'

सबसे ज्यादा इस्तेमाल सुरक्षा में

68 % कंपनियां एआई का इस्तेमाल हैकिंग से बचने में कर रही हैं। यूजर से जुड़े कामों में भी इसका प्रयोग हो रहा है। 20 % की राय में इसका सर्वाधिक इस्तेमाल फाइनेंस, स्ट्रैटजिक प्लानिंग, एचआर, कॉरपोरेट डेवलपमेंट आदि में होता है। 32 % ने कहा कि 2020 तक सेल्स, मार्केटिंग और कस्टमर सर्विस पर एआई का सर्वाधिक असर होगा। क्षेत्र प्रति कंपनी औसत उत्तरी अमेरिका 525 करोड़ रु. यूरोप 480 करोड़ रु. एशिया-प्रशांत 365 करोड़ रु. लैटिन अमेरिका 335 करोड़ रु.

2015 में एआई पर निवेश पहले नौकरियां जाएंगी, पर बाद में बढ़ेंगी

आर्टिफिशियल इंटेलिजेंस के इस्तेमाल से विभिन्न सेक्टर में 2020 तक नौकरियों की संख्या 4% से 7% तक कम होगी। लेकिन इससे जो पैसे बचेंगे, उसके निवेश से तीन गुना ज्यादा नौकरियां मिलेंगी। हालांकि ऐसा बड़ी कंपनियों में ही होगा।

Date: 16-03-17

सरकार को नागरिकों पर भरोसा क्यों नहीं?

कुछ दिनों पहले खबर थी कि केंद्र सरकार ने बजट में 2.80 लाख कर्मचारियों की भर्ती का प्रावधान किया है। यह प्रधानमंत्री के इस वादे के खिलाफ है कि उनके नेतृत्व में कम सरकार, अधिक शासन मूल मंत्र रहेगा। मैंने भोलेपन में इसका यह अर्थ लगाया कि यह मेरी, आपकी और आम नागरिकों की जिंदगी को अधिक आसान बना देगा, जो नियमों की भूल-भुलैया में से राह निकालने के लिए संघर्ष कर रहे हैं। पिछले दशकों में अधिकांश भारत को चलाने वाली सुस्त और विशाल नौकरशाही में पर्किंसन्स लॉ (नौकरशाही की अनियंत्रित वृद्धि) के साथ नियम-कानून भी खरगोशों की तरह तेजी से बढ़ते चले गए।

मुझे तो वाकई उम्मीद थी कि नरेंद्र मोदी उलटा ही करेंगे। अपने चुनाव अभियानों में उन्होंने साबित कर दिया है कि किसी भी हालत में जीतने के लिए प्रतिबद्ध पेशेवरों की छोटी-सी टीम से बढ़कर कोई इतना अच्छा काम नहीं कर सकता। भारत का कोई भी व्यक्ति बड़ी खुशी से उन्हें बता सकता है कि रोज की जिंदगी में हमारी सबसे बड़ी परेशानी उन अधिकारियों की बहुत बड़ी संख्या है, जिनसे हमें हर चीज के लिए जूझना पड़ता है। इससे देरी होती है, जिससे भ्रष्टाचार जन्म लेता है। भ्रष्टाचार से ही हताशा और गुस्सा पैदा होता है। इस गुस्से से राष्ट्र की आत्मा का क्षय होता है। ज्यादातर भारतीयों के लिए व्यवस्था से लड़ने का मतलब है उस अड़ियल जूनियर अधिकारी से निपटना जो सरकार का चेहरा है। जो भी कारण हो लेकिन, वह दिए हुए काम में रुचि ही नहीं रखता और मदद करने से इनकार कर देता है। सरकारी काम में वह शाश्वत अड़ंगा है।लेकिन रिपोर्ट ने जो कहा था वह और भी विचलित करने वाला है। सबसे ज्यादा नई भर्ती तो पुलिस, आयकर, कस्टम और एक्साइज विभागों में होगी। भर्ती वहां नहीं हो रही है, जहां मौलिक विचार जन्म लेते हैं, जो हमारी मौजूदा व्यवस्था को सरल बनाते हैं, सरकार के काम में सुधार लाते हैं बल्कि यह उन विभागों में हो रही है, जो कानून लागू करते हैं और हम पर निगरानी रखते हैं। आप शायद यह सोचकर चकरा जाएं कि ऐसे देश में स्वास्थ और शिक्षा विभागों में ज्यादा लोगों की जरूरत क्यों नहीं है, जहां आबादी बढ़ती जाती है और सुविधाए हमेशा जरूरत के मुताबिक नहीं होतीं। आप शायद सोचें कि हम वैज्ञानिक या अंतरिक्ष शोध अथवा ऐसी उभरती टेक्नोलॉजी के क्षेत्र में भर्ती क्यों नहीं करते, जिनका उपयोग हमारे शासन की गुणवत्ता सुधारने में किया जा सकता है। कारण सरल-सा है। अब तक जितनी भी सरकारें हुई हैं वे सब गलत काम करने वालों को पकड़ने में व्यस्त रही हैं। उन्होंने कभी यह जानने की कोशिश नहीं की कि लोग गलत काम करते ही क्यों हैं।

आमतौर पर कारण यह होता है कि सरकार प्राय: ऐसे निर्णय ले लेती है, जो अपने आप में गलत होते हैं। रोज की जिंदगी में इसके कई उदाहरण हैं। फिर भी सरकार ऐसे कानून बनाने पर जोर देती है, जिनके बारे में वह जानती है कि वे तोड़े जाएंगे। आसान-सा उदाहरण है शराबबंदी। इसके सामाजिक व नैतिक लाभ चाहे जो हों, हम सब जानते हैं कि ऐसे कानून केवल उन्हें लागू करने वालों को ही धनी बनाते हैं। आज की जनरेशन शायद नहीं जानती हो लेकिन, बरसों तक विदेशी सामान के भारत में प्रवेश पर रोक थी। नहीं, इससे कोई हम अधिक राष्ट्रवादी नहीं हो गए। इससे सिर्फ तस्कर रईस हो गए। बदले में वे राजनीतिक व्यवस्था को पैसा देते यह सुनिश्चित करने के लिए की कानून बना रहे और वे पैसा कमाते रहें। सौभाग्य से वैश्वीकरण ने उस कथा और तस्करी का अंत कर दिया।जाहिर सा निष्कर्ष है : जितना आप नियम-कानून बनाएंगे, उतना आप अपराध को प्रोत्साहित करेंगे। बहुत समय पहले की बात नहीं है कि किसी जश्न पर धनी व्यक्ति को 97.75 फीसदी आयकर चुकाना पड़ता था। अपना हाथ दिल पर रखकर मुझे बताइए, क्या आप वाकई उन लोगों को दोष दे सकते हैं, जो उस मूर्खतापूर्ण कानून से बचने के लिए अपनी आमदनी छिपाते हैं या उसे अवैध रूप से देश से बाहर ले जाते हैं। जब आपके कानून तर्कसंगत हो तो नागरिक उनका पालन करते हैं। अन्यथा हर कोई उससे बचने की गली खोज लेता है। आप जीएएआर ले आइए। आप कानून को कड़ा और कड़ा करते जाएं लेकिन, उससे लोगों को रास्ता खोजकर बच निकलने से नहीं रोका जा सकता। जब करारोपण चोट पहुंचाने लगता है तो अरबपति दूसरे देश चले जाते हैं। बिज़नेस व उद्योग-धंधे यही करते हैं।

बेहतर होगा कि ऐसे सरल और अधिक तर्कसंगत कानून बनाए जाएं कि लोग उनका पालन करना चाहें। यह कर चोरों का राष्ट्र नहीं हैं। हम कभी थे भी नहीं। हमारी समस्याएं तब शुरू हुई जब हमारे कानून निर्माता लालची हो गए। जब आप खेती को कर दायरे से बाहर रखें और लाखों लोग बेरोजगार अथवा अपर्याप्त रोजगार में हो तो यह कहना विवेकसंगत नहीं है कि केवल 2 फीसदी भारतीय टैक्स देते हैं। असली संख्या एकत्र करें और उसमें से टैक्स न देने लायक कम उम्र और वृद्धों की संख्या निकाल दें। फिर रोजगार के वास्तविक आंकड़ों से मिलान करें तो आपको अहसास होगा कि आंकड़ें उतने खराब भी नहीं हैं। समस्या यह है कि हमें ऐसे आंकड़ें पसंद हैं, जो हमें पतनशील दिखाते हैं। हमें हमारे पर ही भरोसा नहीं है। सबसे खराब बात तो यह है कि हमारी पूरी व्यवस्था इसी धारणा पर काम करती है कि हम सब गलत काम करने वाले हैं, जब तक कि इसके विपरीत तथ्य सिद्ध न हो जाए। यहीं पर मोदी वास्तविक बदलाव ला सकते हैं, सरकार की मानसिकता में बदलाव लाकर।

यदि आप मुझे पूछें तो अपने करीब तीन वर्षों में मोदी ने सबसे महत्वपूर्ण बात यही की है कि उन्होंने भारत को बेहतरी के लिए बदलने की हमारी क्षमता में हमारा भरोसा बहाल किया है। अचानक नोटबंदी के बाद लाखों लोग अपने ही बैंक खाते से पैसा निकालने के लिए धैर्यपूर्वक लाइन में लगे रहे। वे नाखुश थे, कुंठित थे। यह वाकई इस तथ्य की पुष्टि है कि हमारे नागरिक कितने कानून का पालन करने वाले हैं। मेरा मानना है कि कानून लागू करने वाले विभागों में लाखों लोगों को भर्ती करने की बजाय थोड़ी-सी वास्तविकता और थोड़ा-सा भरोसा काफी बेहतर नतीजे दे सकता है। यदि सरकार अपने नागरिकों के बारे में अच्छी राय रखती है तो नागरिक भी अपने बारे में अच्छा सोचेंगे। और यही एकमात्र रास्ता है, जिससे कोई राष्ट्र खुद को रूपांतरित कर सकता है।

प्रीतीश नंदीवरिष्ठ पत्रकार एवं फिल्मकार, (ये लेखक के अपने विचार हैं)

Date: 16-03-17

संगीत की हिंदू-मुस्लिम साझी विरासत सहेजकर रखें

असम के 42 मौलवियों के फतवे ने इंडियन आइडल की सोलह वर्षीय जूनियर गायिका नाहिद आफरीन को धमकाने की कोशिश की है लेकिन, उसने अपने संगीत को खुदा का तोहफा बताकर उसे जारी रखने की हिम्मत दिखाई है। नाहिद ने मौलवियों के जवाब में उचित ही कहा है कि अगर वह अपना संगीत जारी नहीं रखेगी तो खुदा की अनदेखी करेगी।दरअसल खुदा की अनदेखी तो वे मौलवी कर रहे हैं जो न तो एक बच्ची की प्रतिभा का सम्मान कर रहे हैं और न ही भारतीय उपमहाद्वीप में इस्लाम और संगीत के दीर्घकालिक रिश्ते की कद्र कर रहे हैं। हालांकि, उनकी दलील है कि फतवा इसलिए जारी हुआ है, क्योंकि नाहिद के कार्यक्रम का स्थल मस्जिद और कब्रिस्तान के पास है। अगर मामला इतना ही है तो नाहिद और कार्यक्रम आयोजकों को कोई व्यावहारिक रास्ता निकालना चाहिए ताकि इस्लाम के मानने वालों की बात भी रह जाए और उसके अनुयायियों का संगीत से रिश्ता भी कायम रहे।

कई बार फतवे महज राय देने के लिए होते हैं और उन्हें मानने की बाध्यता नहीं होती। ऐसा दारुल उलूम देवबंद जैसा इस्लाम का कट्टरपंथी इदारा भी करता रहता है। उसके मौलवियों का कहना होता है कि हमारे पास जब लोग किसी विषय पर राय लेने आते हैं तो हम उन्हें इस्लाम

के मुताबिक एक दृष्टिकोण दे देते हैं। किंतु उसे लागू करने का दबाव नहीं डालते। कई बार ऐसे फतवे उन युवा प्रतिभाओं और उनके परिवार के भीतर भय पैदा करते हैं जो मीडिया और फिल्मी दुनिया में जगह बना रहे होते हैं।

ऐसी ही घटना कश्मीर की लड़की जायरा वसीम के साथ भी हुई थी, जिसने आमिर खान की दंगल फिल्म में पहलवान बेटी की भूमिका निभाई थी। दरअसल भारतीय उपमहाद्वीप का कला और संगीत जगत हिंदुओं और मुस्लिमों की साझी विरासत की शानदार गवाही देता है। बल्कि यह ऐसी निर्मल धारा है जहां पर वास्तव में गंगा जमुनी तहजीब का निर्माण होता है। उस्ताद विलायत खां, उस्ताद बड़े गुलाम अली खां, उस्ताद अब्दुल करीम खां, उस्ताद अल्ला दिया खां, उस्ताद बिस्मिल्ला खां और बेगम अख्तर, शमशाद बेगम, नूरजहां जैसी पुरानी पीढ़ी की हस्तियों से लेकर परवीन सुल्ताना, नीलिमा खातून जैसी आज की महिला और पुरुष कलाकारों की फेहरिस्त बेहद लंबी है। दक्षिण एशिया की यह विरासत अनमोल है और इसे समाज और सरकार को बचाकर रखना चाहिए।

बिज़नेस स्टैंडर्ड

Date: 16-03-17

औपचारिक अर्थव्यवस्था में रोजगार का सृजन

सरकार को आगामी राजस्व सुधार को रोजगार निर्माण में लगाकर असंगठित क्षेत्र में हुए रोजगार के नुकसान की भरपाई करने का तरीका तलाश करना होगा। विस्तार से बता रहे हैं आकाश प्रकाश

नोटबंदी यकीनी तौर पर एक विवादास्पद कदम था। आलोचक कहेंगे कि इसकी बदौलत कोई काला धन उजागर नहीं हुआ। सारी नकदी बैंक में जमा हो गई और भ्रष्टाचार पर भी इसका कोई दूरगामी असर नहीं दिखा। अब नकदी चलन में वापस आ रही है और भ्रष्टों की मांग भी उसी अनुपात में है। वहीं नोटबंदी के समर्थक बढ़ते डिजिटल भुगतान, नकदी के आगमन के चलते कम ब्याज दर और कर दायरे में इजाफे की दलील सामने रखेंगे। दोनों बातें अपनी-अपनी जगह सही हैं। परंतु नोटबंदी के दो स्पष्ट लाभ हैं इसमें भी मोटे तौर पर काले धन से लड़ाई ही अहम है। इसने वित्तीय बचत का आकर्षण बढ़ाया है। हर तरह की वित्तीय परिसंपत्ति में जबरदस्त आवक नजर आ रही है क्योंकि घरेलू बचत अब सोने, नकदी और अचल संपत्ति से शेयर, बॉन्ड और बैंक जमा की ओर रुख कर रही है। अधिकांश बैंकों का मानना है कि 35 से 40 फीसदी तक जमा नकदी उनके पास बरकरार रहेगी। एक बार औपचारिक वित्तीय तंत्र में आगमन के बाद नकदी अपना रास्ता खुद तलाश कर लेगी। इससे लागत कम होगी और भारतीय कंपनियों को पूंजी सस्ती मिलेगी और विदेशी पूंजी पर निर्भरता कम होगी।दूसरा स्पष्ट बदलाव है अर्थव्यवस्था को बड़े पैमाने पर औपचारिक बनाना। नोटबंदी, जीएसटी, तीन लाख रुपये से ऊपर नकद लेनदेन पर रोक आदि कदमों ने अर्थव्यवस्था में नकदी का इस्तेमाल सीमित किया। असंगठित क्षेत्र पर इसका दबाव साफ नजर आ रहा है। यह वह क्षेत्र है जो नकद लेनदेन करता है और कर नहीं चुकाता है। देश की अर्थव्यवस्था में असंगठित क्षेत्र की हिस्सेदारी 40 फीसदी है। कुल श्रम शक्ति का तकरीबन 75 फीसदी इसमें लगा है। सारी रोजगार वृद्धि यहीं सीमित है। केवल यही कंपनियां कम कुशल कर्मचारियों को रोजगार दे सकती हैं।

दुर्भाग्यवश इस क्षेत्र की अधिकांश कंपनियों की मुख्य प्रतिस्पर्धी बढ़त थी उनकी कर वंचना की क्षमता और न्यूनतम वेतन, श्रम कानूनों आदि की अवहेलना करना। तकनीक और पैमाने के अभाव में संगठित क्षेत्र के मुकाबले का यही तरीका है। काले धन के खिलाफ कार्रवाई लड़ाई उनके लिए झटका साबित हुई। ऐंबिट जैसे विभिन्न ब्रोकरों द्वारा किए गए सर्वे ने दिखाया कि छोटे और मझोले उद्यम आज भी अपने वेंडरों, श्रमिकों

और इन्वेंटरी के लिए पर्याप्त नकदी जुटा पाने में संघर्ष कर रहे हैं। सभी इकाइयां कामगारों को बैंक खातों के जरिए भुगतान करें यह सुनिश्चित करने का प्रयास किया जा रहा है। आगे चलकर सभी एसएमई को कहा जाएगा कि वे अपने वेंडरों और कामगारों को ऑनलाइन और खाते के जरिये भुगतान करें। इससे वे निगरानी में रहेंगे। जीएसटी का क्रियान्वयन तेज बदलाव के इस ढांचागत रुख को और मजबूत करेगा। तब अधिकांश कंपनियां औपचारिक अर्थव्यवस्था के बिना काम नहीं कर पाएंगी। नोटबंदी जहां काले धन और भ्रष्टाचार के खिलाफ थी, वहीं मुझे नहीं पता कि इसका अर्थव्यवस्था को औपचारिक बनाने से कोई लेनादेना था या नहीं।

अर्थव्यवस्था के तेजी से औपचारिक होने के कुछ संभावित असर क्या हो सकते हैं? स्पष्टï है कि असंगठित क्षेत्र में बड़े पैमाने पर नौकरियां जाएंगी क्योंकि असंगठित इकाइयों का काम तेजी से बड़े संगठित कारोबारियों के पास चला जाएगा। या फिर उनको भारी भरकम वेतन भत्ता देना होगा। इसके चलते कर्मचारियों की संख्या भी कम करनी होगी। सवाल यह है कि हर वर्ष श्रम शक्ति में इजाफा कर रहे एक करोड़ युवाओं को रोजगार कहां से मिलेगा? व्यापक तौर पर संगठित निजी क्षेत्र में रोजगार नहीं मिल पा रहा है क्योंकि तमाम रोजगार असंगठित क्षेत्र से आ रहे हैं। सूचना प्रौद्योगिकी और दूरसंचार जैसे क्षेत्रों में आने वाले वर्षों में श्रमिकों की संख्या कम हो सकती है। अचल संपत्ति क्षेत्र में गिरावट आने का असर उस क्षेत्र के रोजगार पर भी पड़ सकता है। यानी अर्थव्यवस्था के औपचारिक होते जाने का अर्थव्यवस्था पर नकारात्मक असर होगा।

इसके अलावा ऋण का नकारात्मक चक्र भी देखने को मिल सकता है। कई छोटे कारोबारियों की आर्थिक गतिविधियां सिमट जाएंगी। यह एनबीएफसी क्षेत्र के लिए कहीं अधिक बड़ी समस्या बन सकती है बजाय कि बैंकों के। अगर ये इकाइयां ज्यादा नकद लेनदेन करती रही हैं तो इस बात की संभावना नहीं है कि वे सरकारी बैंकों की बड़ी ग्राहक हों। बैंकों को भी ऋण को उचित ठहराने के लिए खातों का अंकेक्षण करना होगा। संपत्ति के समक्ष ऋण में दिक्कत होगी और अधिकांश एनबीएफसी के एसएमई फाइनैंस पोर्टफोलियो में भी। वहीं दूसरी ओर, एनबीएफसी के पास नकदी संभालने, उसका लेखाजोखा रखने की विशिष्ट क्षमता ऐतिहासिक रूप से चली आई है लेकिन आने वाले दिनों में इस बात का कोई खास महत्त्व नहीं रह जाएगा। क्या बैंक आने वाले दिनों में अर्थव्यवस्था के औपचारिक होते जाने के बीच इन ग्राहकों को बेहतर ढंग से संभाल सकेंगे? क्या एनबीएफसी की बढ़ती बाजार हिस्सेदारी रुक जाएगी? इस बारे में अवश्य विचार किया जाना चाहिए।

इन कम कुशल कर्मियों का रोजगार जाने से निचले स्तर की खपत पर दबाव बनेगा। ऐसे में प्रीमियम उत्पादों की वृद्धि दर प्रभावित होगी। ऐसा दौर भी आ सकता है जब विभिन्न श्रेणियों के दरमियान वरीयता का रुझान कमजोर पड़ेगा। कंपनियां अपेक्षाकृत सस्ते उत्पादों पर अधिक ध्यान देंगी। ग्रामीण और अद्र्घशहरी उपभोक्ताओं के लिए कारोबार अधिक चुनौतीपूर्ण हो जाएगा। जैसे-जैसे अर्थव्यवस्था औपचारिक होती जाएगी सरकार का कर दायरा बढ़ता जाएगा। हम देखेंगे कि सरकार के पास तमाम संसाधन हैं जिन्हें वह बुनियादी ढांचे, स्वास्थ्य और शिक्षा आदि पर खर्च कर सकेगी जबकि राजकोषीय घाटा स्थिर रहेगा। सरकारी व्यय अगले कुछ समय तक अर्थव्यवस्था का वाहक बना रहेगा। इसके अलावा कर की स्थिति भी सकारात्मक बनी रहेगी।

जब अर्थव्यवस्था में संगठित क्षेत्र के कारोबारियों की हिस्सेदारी बढ़ जाएगी तो इससे शेयर बाजार लाभान्वित होंगे। सूचीबद्ध शेयरों को भी इस बदलाव का फायदा मिलेगा। अर्थव्यवस्था के औपचारिक होने के कारण हमें मुनाफे और आय दोनों में सुधार देखने को मिलेगा। इसके अलावा कारोबारी जगत के प्रदर्शन में भी बिखराव नजर आएगा। कुछ कारोबारों में असंगठित क्षेत्र की हिस्सेदारी 50 फीसदी तक है। अन्य क्षेत्रों में उनकी मौजूदगी नहीं नजर आती। सही मायनों में शेयर कीमतों में उछाल अब नजर आएगी क्योंकि निवेशक उन कंपनियों पर दांव लगाने का प्रयास करेंगे जिनको अर्थव्यवस्था के औपचारिक होने का लाभ मिलेगा। कुलमिलाकर हमें देश की अर्थव्यवस्था का तेजी से औपचारिक होता परिदृश्य नजर आएगा। इससे संगठित और सूचीबद्ध क्षेत्रों को लाभ होग। सरकारी वित्त की स्थिति भी ठीक होगी लेकिन रोजगार के लिए यह नकारात्मक साबित होगा। सरकार को आने वाले राजस्व सुधार को रोजगार निर्माण की दिशा में मोडऩा होगा और कौशल विकास पर काम करना होगा।

Date: 16-03-17

हल होगा मकसद?

महिला सामाजिक कार्यकर्ताओं ने सवैतनिक मातृत्व अवकाश को 12 सप्ताह से बढ़ाकर 26 सप्ताह किए जाने की सराहना की है। परंतु आगे चलकर उनको लग सकता है कि मातृत्व लाभ अधिनियम 1961 में किए गए इस संशोधन से लंबी अवधि में स्त्री-पुरुष समानता का उद्देश्य शायद ही पूरा हो। यह विधेयक स्वास्थ्य मंत्रालय की इस अनुशंसा के अनुरूप है कि शिशु को कम से कम छह माह तक स्तनपान कराया जाना चाहिए। हमारे देश में यह बात बहुत ज्यादा अहम है क्योंकि यहां शिशु का स्वास्थ्य और उसका बचाव गहन चिंता का विषय है। समस्या शायद बढ़ी हुई छुट्टियों का दायरा उन वाणिज्यिक संस्थानों तक बढ़ाने में निहित है जहां कामगारों की संख्या 10 तक है। जिन संस्थानों में 50 से अधिक महिलाएं कार्यरत हैं वहां पालनाघर की सुविधा पहले से अनिवार्य है। हालांकि ये प्रावधान इस मायने में सराहना की वजह बन सकते हैं कि इनके चलते हमारा देश एक स्तर पर विकसित देशों के समकक्ष हो जाता है। कोई भी व्यक्ति जो कम कर्मचारियों वाला संस्थान चला रहा हो उसे यह बात पता होती है कि किसी ऐसे कर्मी को आधे साल तक पूरा वेतन देना पूरी तरह अव्यावहारिक है जो काम पर नहीं आ रहा हो। निरंतर प्रतिस्पर्धी होते और तेजी से बदलते कारोबारी परिदृश्य में छोटे और मझोले उद्यमों से तार्किक ढंग से यह उम्मीद नहीं की जा सकती है कि वह उत्पादकता को पहुंचने वाले ऐसे नुकसान को सहन कर सके। इसलिए यह अनुमान लगाना सहज है कि उक्त प्रावधान छोटे आकार के उद्यमों को महिलाओं को काम पर रखने के लिए हतोत्साहित करेगा या महिला कर्मचारियों की छंटनी की प्रक्रिया को या उनको मौजूदा वेतन से कम वेतन भत्ते दिए जाने को प्रोत्साहित करेगा।

चूंकि छोटे कारोबार, खासतौर पर स्टार्टअप अक्सर महिलाओं के लिए श्रम शक्ति में प्रवेश द्वार का काम करते हैं इसलिए इस तरह का भेदभाव स्त्री-पुरुष समानता के उद्देश्य को अपूरणीय क्षति पहुंचाएगा। हमारे देश में पहले ही श्रमशक्ति में महिलाओं की भागीदारी 27 फीसदी के कमतर स्तर पर है। संसद अगर मातृत्व अवकाश की सीमा को ऊंचा करती और इसे उन संस्थानों तक सीमित करती तो बेहतर होता जिनकी वित्तीय स्थिति दुरुस्त है और जो कर्मचारियों की अच्छी संख्या के चलते इस स्थिति को झेल सकते हैं। उदाहरण के लिए नेस्ले इंडिया के लिए अपनी महिलाकर्मियों को 24 सप्ताह का सवैतनिक मातृत्व अवकाश देना कोई मुश्किल नहीं होगा। उसने गत वर्ष फरवरी में ऐसी घोषणा भी कर दी थी। लेकिन इस बहुराष्टïं्रीय कंपनी में 7,000 कर्मचारी हैं।

एक आलोचना यह भी है कि इसके लिए ऊंचा मानक तय करने से लाभार्थियों की दो श्रेणियां तैयार होंगी। लेकिन इसका उत्तर यह है कि ऐसी श्रेणियां पहले से मौजूद हैं क्योंकि कानून केवल संगठित क्षेत्र को ही ध्यान में रखता है। असंगठित क्षेत्र की असंख्य स्त्रियां इसके दायरे में नहीं। महिला अधिकारों के मामले में पश्चिमी देशों खासतौर पर उत्तरी यूरोप के देश अग्रणी हैं। लेकिन यह जानना अहम है कि वहां के अत्यंत उदार मातृत्व और पितृत्व लाभ आबादी बढ़ाने की मंशा से संचालित हैं। उस दृष्टिïं से उन्हें भारत में लागू नहीं किया जा सकता है जो दुनिया का दूसरी सबसे अधिक आबादी वाला देश है। नए कानून का सराहनीय पहलू यह है कि इसमें संबंधित लाभ दो बच्चों तक सीमित हैं। इसकी चीन की एक संतान नीति से तुलना करते हुए काफी आलोचना की गई। लेकिन सरकार को परिवार नियोजन तय करने का अधिकार है। इसका संबंध महिलाओं के स्वास्थ्य की रक्षा से भी है। गर्भनिरोध को लेकर जागरूकता अभियान इस संदेश को और प्रसारित करने में मदद करेगा।

The Indian EXPRESS
JOURNALISM OF COURAGE

Date: 15-03-17

From Plate to Plough: A finger on the pulses

Government must give a level playing field by removing restrictions on markets and exports

Last year, roughly at this time, the price of tur dal (split pigeon pea) in the retail market was hovering around Rs 180/kg. The prices of other pulses were not far behind. They were all spiralling due to back-to-back droughts during 2014-15 and 2015-16. Production of all pulses had plunged to 16.5 million metric tonnes (MMT), and imports shot up to 5.8 MMT. The rising demand for imports from India also put international prices under pressure, especially for chickpeas from Australia. This caused hardships to poor consumers at home as dal was slipping away from their "dal-bhaat" or "dal-roti", a survival food-kit of the poor. There were heightened concerns at the policy level to find ways and means to augment pulses supplies in general and tur in particular.

A long-term agreement was signed with Mozambique for the import of pulses. In fire-fighting mode to douse the flames of high inflation, the Government of India set up a committee under the chief economic advisor to solve this problem of pulses. It was important to have a fresh look at the pulses sector as over the last 25 years, policy had failed miserably to achieve self-sufficiency in pulses. So, it was clear that business as usual will not deliver.

One of the key findings of the committee was if farmers have to be incentivised to grow more pulses, and on a larger irrigated area, they must receive a sufficient profit from growing pulses. Given the levels of technology, it was realised that if farmers get about Rs 7,000/quintal for their produce, then pulses can compete with other crops. The ongoing minimum support prices (MSP) of kharif pulses hovered between Rs 4,625/quintal for tur and urad (black gram) to Rs 4,850/quintal for moong (green gram). Giving a massive jump from these levels to Rs 7,000/quintal in one go was considered politically difficult. So, it was thought it would be done over two years. But when the MSP for 2016-17 crops was announced, it was just Rs 5,050/quintal (including bonus) for tur and urad, and Rs 5,225/quintal for moong — far below their market prices.

Farmers responded to high market prices by planting more area under pulses, and a good rainfall helped them to reap a bumper harvest in 2016-17. Tur production, for example, shot up by a whopping 65 per cent, from 2.5 MMT to 4.2 MMT, while overall, pulses production went up by 33 per cent, from 16.5 MMT to 22 MMT. The result was a massive drop in the market price of tur, from about Rs 10,000/quintal in September-October 2016 to Rs 4,000-4,500/quintal in February-March 2017, even below the MSP. Private trade was not allowed to hold onto much stock, exports were banned and government procurement was not enough to hold the floor at the MSP. Obviously, such low prices do not give much profit to pulses producers in relation to competing crops. So, hoping that farmers will remain upbeat on pulses and bring more irrigated area under pulses will remain a distant dream. The usual roller-coaster of high and low prices in pulses is likely to continue.

But all is not lost yet. There is still a chance that the government can rescue the situation, if it springs into action right away. Chickpea (chana) has started arriving in the market. It is India's largest pulses crop, accounting for more than 40 per cent of total pulses production. Last year, chickpea production, as per government estimates, had fallen to 7 MMT, although the market assessment was below 6 MMT. But this year, chickpea production is expected to be around 9.1 MMT, a jump of 29 per cent. As a result, chickpea prices have been tumbling down. Although the prices are still a little above MSP, it won't be a surprise if they also go below MSP very soon, as did tur prices.

Urgent action is needed if we are serious about solving the pulses problem. The least that the GoI can do is to give farmers a level playing field by removing restrictions on the functioning of free markets. This would imply action on five fronts. One, remove stocking limits on private trade, so that these enterprises can buy from the market and store. This policy should be announced for at least the next three years, if not more, so that private players are encouraged to buy and build ample storage capacity. Two, abolish bans or restrictions on exports of all pulses. If farmers can get a better price by exporting, why are they not permitted do so, especially when the system cannot even guarantee them MSP and imports are open? Let it be very clear that any bans or restrictions on exports are simply an implicit tax on the peasantry and an anti-farmer policy.

Three, introduce all pulses in futures trading. This way, farmers will get price signals well in advance. They should take planting decisions based on likely future prices, not last year's market prices. They should be forward-looking, not backward-looking. This will be in sync with markets and can reduce the risk of planting decisions. Four, step up government procurement at MSP by engaging even private agencies, to build a buffer stock of 2 MMT. This is a golden opportunity and can also save farmers from a price crash. Five, impose an import duty of 5-10 per cent for the next three to six months to give a cover to farmers in post-harvest months.Unless these actions are taken immediately, the pulses problem is not going to be resolved. And next year, consumers may once again face higher prices. Can the GoI bite the bullet?

The writer is Infosys Chair professor for agriculture at ICRIER

THE HINDU

Date: 15-03-17

Not so accessible after all

The government's own documents are not accessible to persons with disabilities

Irony: a state of affairs or an event that seems deliberately contrary to what one expects and is often wryly amusing as a result.Now that we have the definition of irony established, let me explain how that connects with the disability rights movement.But first, a little context. A landmark year for the movement was 2015-16. A fight that was decades in the making went from a murmur to a resounding roar that echoed through the chambers of Parliament. And that roar led to the passing of the Rights of Persons with Disabilities Bill, 2016. From only seven recognised disabilities in the previous archaic Act of 1995 to 21 disabilities now, the new law is a true game changer that provides provisions that will benefit many. This isn't just a piece of legislation that is the politically correct thing to say. It is the real deal which takes into account real issues like accessibility to infrastructure, technology and information.

We also saw the launch of the Accessible India Campaign (Sugamya Bharat Abhiyan) by the Department of Empowerment of Persons with Disabilities (DEPwD) in 2015, and it was welcomed for its spirit and intention. The campaign has a heavy focus on not just accessibility to physical infrastructure, but also on Information and Communication Technologies — which is the elephant in the room we need to address.As per the Rights of Persons with Disabilities Act, 2016: "The appropriate Government shall take steps to ensure that all their public documents are in accessible formats." The Accessible India Campaign itself has a separate objective and its own targets on enhancing the proportion of accessible and usable public documents. From all the other provisions laid out in the law and the campaign, this needs a special mention since more often than not, people with disabilities miss out on information to do with their own lives because of lack of accessibility.

Attitudinal barriers

And there's the connect. The irony. Recently, the DEPwD drafted the rules of the new law which have now been made available to the public for comments. The 74-page-long comprehensive document will be scrutinised by many, but not by those whose lives these rules directly impact. It's ironic that the rules, a public document on the department's website, are not published in an accessible format to those whose roar made this happen.I have put out opinion pieces, both in long form and those of the 140-character variety. And I have been a part of the Accessible India Campaign and the department. I chose to play that role to understand the dynamic of the government instead of simply pointing fingers and playing the blame game.

And what did I learn? Attitudinal barriers are here to stay. Formulating an ambitious campaign is a wonderful idea, but what about the barriers within the walls of the system? Change cannot come about if it does not first begin at home. And publishing the rules of the Accessible India Campaign without making them accessible is just ironic in a tragic way.

Parul Ghosh is a disability rights professional

Date: 15-03-17

On the rocks

A second referendum on independence may not be in Scotland's best interest

The timing of the announcement by Nicola Sturgeon, Scotland's first minister, to seek a second referendum on independence for Scotland may be no more than strategic. Her call on Monday coincided with the U.K. Parliament's adoption of a landmark legislation to begin talks to exit the European Union. But Ms. Sturgeon's move should remind Westminster that the thought of separation from the British union has never fully been excised from the popular imagination in Scotland, despite the resounding 2014 vote to stay. Recent developments seem to have hardened public sentiment against continuing in the United Kingdom among the Scots, who had voted overwhelmingly in June 2016 to remain in the EU. The popular mood in favour of independence did surge briefly, as reflected in opinion polls soon after the Brexit vote. But the support receded in subsequent months. The prospects for a separate Scotland once again revived after British Prime Minister Theresa May's landmark speech in January, in which she made clear her decision to quit the common market. It is futile to speculate on what better terms might have been offered to assuage sentiment in the north, as Ms. May has prioritised immigration control as the red line in her negotiations with her counterparts in the bloc. But Edinburgh has been growing more impatient of late with London over its demands.The greatest political challenge for the Conservative government in London as it acts to take Britain out of the 28-country bloc, is to put forward a coherent and convincing case for Scotland to remain in the U.K. The economic argument for Edinburgh to leave is apparently at its weakest, given the recent slump in oil prices and a mounting fiscal

deficit. The champions of access to the common market also run up against the argument that a large share of Scotland's trade is within the U.K. However, such rational arguments against independence may not cut much ice given that London's steps to effect Brexit continue to be divisive nearly a year after the vote. In fact, the advocates of independence are likely to argue that if London can rip apart a European partnership of four decades so easily on grounds of restoring national sovereignty, it may well one day reconsider Scottish devolution. But the proponents of Scottish separation would be most short-sighted to promise the moon to potential followers. In fact, countries such as Spain that are fighting their own secessionist movements are unlikely to back the current bid by the Scottish National Party. Edinburgh's EU entry would have to be ratified by every single member state, a prospect that would commit them to make similar concessions. Europe's leaders, alive to the sensitivities of undermining the sovereignty of member nations, have repeatedly cautioned against expectations of an automatic guarantee of admission in the event that Edinburgh exits Britain.

Live हिन्दुस्तान.com

Date: 15-03-17

बदलते सामाजिक समीकरणों का संदेश

उत्तर प्रदेश में भारतीय जनता पार्टी के खाते में 312 सीटें आई हैं और साल 1951 के पहले चुनाव को यदि छोड़ दें, तो किसी विधानसभा चुनाव में किसी भी पार्टी द्वारा जीती गई ये अब तक की सबसे ज्यादा सीटें हैं। हालांकि इस ऐतिहासिक जीत के शोर-शराबे में मतदाताओं के बीच से निकले एक महत्वपूर्ण संदेश को नजरअंदाज किए जाने का खतरा भी है, और यह संदेश है- सामाजिक अस्मिता की राजनीति में 'फॉल्ट-लाइन्स' यानी नई विभाजन रेखाओं का उभरना। इसकी अनदेखी आने वाले दिनों में मुश्किलें पैदा कर सकती हैं।

अगर सब कुछ तय ढर्रे पर होता, यानी जातिगत व धार्मिक अस्मिता के आधार पर पारंपरिक तौर पर जनता ने अपना मत दिया होता, तो उत्तर प्रदेश में लगभग एक-तिहाई वोट भाजपा के खिलाफ जाते। यह तस्वीर पांच राज्यों के विधानसभा चुनावों की घोषणा होने से पहले भी दिख रही थी। फिर भी, शनिवार को भाजपा ने उत्तर प्रदेश में एक शानदार जीत अपने नाम की और अपनी सहयोगी पार्टियों के साथ मिलकर कुल 403 विधानसभा सीटों में से 325 सीटें अपने नाम कर लीं। उसे यहां तीन-चौथाई से भी ज्यादा सीटें मिली हैं। इससे पहले, 16वें आम चुनाव में भी सूबे की 80 लोकसभा सीटों में से भाजपा के खाते में 71 सीटें गई थीं। बेशक दोनों चुनावों की बागडोर प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी ने खुद संभाली हुई थी, मगर सामाजिक पहचान की सीमाओं के टूटे बिना ऐसा जनादेश संभव नहीं था।

दलित जिस तरह से वोट करते रहे हैं, यदि उस चश्मे से ही इस विधानसभा चुनाव के नतीजों को देखें, तो हकीकत का काफी कुछ अंदाजा लग जाता है। हाउइंडियालिव्स डॉट कॉम ने सूबे की ऐसी 140 विधानसभा सीटों का अध्ययन किया है, जहां दलितों की जनसंख्या 23 फीसदी से ज्यादा है। यह विश्लेषण साफ-साफ बताता है कि इस बिरादरी में सामाजिक पहचान किस कदर टूटी है।साल 2012 में यहां के मतदाताओं ने एकमुश्त समाजवादी पार्टी को वोट किया था, जबकि कुछ मत बहुजन समाज पार्टी और कांग्रेस को भी पड़े थे। मगर इसके उलट 2017 के इस विधानसभा चुनाव में यहां के मतदाता भाजपा के साथ खड़े दिखाई देते हैं। यह खासतौर से दलित मतदाताओं में सामाजिक पहचान के कमजोर पड़े बिना संभव नहीं हो सकता। उल्लेखनीय है कि इन दलितों में जाटव हमेशा से बसपा के प्रति वफादार रहे हैं, जबकि गैर-जाटव दूसरे विकल्प खोजते नजर आए। कुछ-कुछ ऐसी ही स्थिति साल 2014 के आम चुनाव में भी हुई थी।

ऐसे में, सवाल यह है कि क्या यह जमीनी स्तर का कोई संरचनात्मक बदलाव है या फिर मोदी लहर के कारण बना माहौल भर? तीन साल में दो बार ऐसा होना यही संकेत देता है कि उत्तर प्रदेश में मतदाताओं की प्राथमिकता में कही न कहीं संरचनात्मक बदलाव जरूर हो रहा है। अब जब सूबे में यह बदलाव जारी है, तो इस क्रम में अगला सवाल यही है कि आखिर ऐसा क्यों हो रहा है? इसका एक सामान्य जवाब यह है कि मोदी अपनी नीतियों में पात्रता की बजाय सशक्तीकरण पर जोर दे रहे हैं। इसी की एक अनुगूंज चुनावों में मतदाताओं से उभरी है।

एक तरफ, तीखी आलोचना के बाद भी नरेंद्र मोदी ने कांग्रेस के नेतृत्व वाले यूपीए (संयुक्त प्रगतिशील गठबंधन) की ग्रामीण रोजगार गारंटी योजना को बनाए रखा, तो दूसरी तरफ प्रधानमंत्री ने आर्थिक सशक्तीकरण की एक ऐसी रणनीति अपनाई, जिसमें पिरामिड में कथित तौर पर धरातल पर मौजूद लोगों को औपचारिक अर्थव्यवस्था में शामिल कराने की मंशा छिपी है। केंद्र सरकार की विभिन्न योजनाओं में यह सोच साफ-साफ देखी जा सकती है। फिर चाहे वह वित्तीय समावेशीकरण वाली जन-धन योजना हो, सब तक बिजली पहुंचाना हो, मुद्रा बैंक के माध्यम से छोटे उद्यमियों को दिया जाने वाला लोन हो या फिर गरीबी रेखा के नीचे के परिवारों को सब्सिडी वाली रसोई गैस देने का प्रावधान हो (इसमें भी परिवार की महिला सदस्य के नाम पर एलपीजी कनेक्शन देने की बात है)।

बेशक इन तमाम कवायदों को आर्थिक रूप से बेदखल गरीबों को औपचारिक अर्थव्यवस्था में शामिल करने के शुरुआती कदम माने जाएंगे। मगर इनसे हाशिये पर मौजूद के लोगों की आकांक्षाएं सीधे जुड़ती हुई दिखती हैं। वैसे भी, एक बेहतर आधार ही सशक्तीकरण को मजबूती देता है। इससे भी अधिक खास बात यह है कि प्रधानमंत्री मोदी ने इस प्रक्रिया में वर्ग संघर्ष को, जो सामाजिक पहचान से परे है, अपने वोटर में बदल दिया। यह आबादी के कम से कम कुछ हिस्सों में हम साफ तौर पर देख सकते हैं।दरअसल, तथ्य यह है कि अब देश की जनसंख्या में नौजवानों की आबादी काफी ज्यादा हो गई है, और यह युवा आबादी किसी परंपरा में आसानी से नहीं बंधती। यह स्थिति इन मतदाताओं को अपनी सामाजिक पहचान से परे जाकर अपनी प्राथमिकताएं तय करने की राह दिखाती है। लिहाजा देश में, और खासतौर से उत्तर प्रदेश की राजनीति में इस समय एक उबाल-सा आता दिखाई पड़ रहा है। ऐसे में, अब जब चुनावी यज्ञ में जाति पर आधारित सामाजिक पहचान होम हो चुकी है, तो असली परीक्षा इस बात में होगी, जब धार्मिक अस्मिता को भी इसी प्रकार चुनौती दी जाएगी।

Date: 15-03-17

खंडित जनादेश के बाद

गोवा और मणिपुर में इस समय जो राजनीति हो रही है, उसमें हंसने, रोने और कहने-कहाने के लिए बहुत कुछ है। उत्तर प्रदेश और उत्तराखंड में बुरी तरह दरकिनार हो चुकी कांग्रेस के लिए इन विधानसभा चुनावों में अगर संतोष के लिए पंजाब की जीत थी, तो वहीं मणिपुर और गोवा के रूप में दो सांत्वना पुरस्कार भी थे। दोनों ही राज्यों में भले ही वह नंबर एक की पार्टी बनकर उभरी हो, लेकिन वह बहुमत से कुछ दूर थी। दोनों ही राज्यों में उससे थोड़ा सा पीछे भारतीय जनता पार्टी थी।माना जा रहा था कि सरकार बनाने के लिए दोनों ही राज्यों में पहला मौका कांग्रेस को दिया जाएगा। खुद कांग्रेस भी आश्वस्त थी, और शायद इसी वजह से उसके नेताओं ने लापरवाही बरती। भाजपा ने आगे बढ़कर इसका फायदा उठाया और इससे पहले कि वह प्रचंड बहुमत वाले उत्तर प्रदेश और उत्तराखंड के लिए मुख्यमंत्री चुनने के साथ ही सरकार बनाने का दावा जैसी औपचारिकताएं पूरी करती, उसने मणिपुर और गोवा में आधे-अधूरे समीकरण बिठाए और सरकार बनाने का दावा पेश कर दिया।

गोवा में तो बाकायदा मुख्यमंत्री को शपथ भी दिला दी गई। गोवा में यह थोड़ा अजीब इसलिए भी लगा कि वहां भाजपा की सरकार थी और चुनाव में जनता ने उसे नंबर दो की पार्टी बना दिया था। अगर राजनीतिशास्त्र की परंपरागत शैली में सोचें, तो खंडित ही सही, पर जनादेश

उसके खिलाफ था, फिर भी उसने सरकार बना ली, तो इसे उसका राजनीतिक कौशल ही माना जा सकता है। कांग्रेस ने इसके लिए सुप्रीम कोर्ट का दरवाजा खटखटाया, लेकिन वहां भी उसे कोई सीधी राहत नहीं मिली। सिवाय इसके कि नई सरकार को दो दिन बाद विधानसभा में अपना बहुमत साबित करना होगा। गोवा के विपरीत मणिपुर में कांग्रेस की सरकार थी और वह चुनाव में बहुमत से दूर रह गई। सरकार बनाने के लिए वहां जो राजनीति चली, वह ज्यादा निचले दर्जे की थी। वहां सरकार बनाने के लिए विधायकों के अपहरण तक के आरोप सामने आए।

दूसरी तरह से देखें, तो इसमें कुछ अजीब सा नहीं लगता। इसमें नई बात नहीं है। खंडित जनादेश के बाद ऐसी राजनीति प्रदेशों में चलती रही है। ऐसा न जाने कितनी बार हुआ है कि जो नंबर एक की पार्टी थी, वह चाहकर भी सरकार नहीं बना सकी, या उसे सरकार बनाने नहीं दिया गया और किसी दूसरे ने समीकरण बिठा लिए। यह भी सच है कि ऐसे ज्यादातर मौकों पर फायदा उसी दल या गठजोड़ का होता है, जिसके साथ केंद्र सरकार खड़ी होती है। ऐसे क्षणों में फैसला राज्यपाल को अपने विवेक से करना होता है और यह विवेक राजनीति निरपेक्ष नहीं होता। यह भारतीय राजनीति का एक और ऐसा मामला है, जिसमें कोई दल जब विपक्ष में होता तो कोई और बात बोलता है और सत्ता में आते ही उसके बोल बदल जाते हैं।

खंडित जनादेश की सूरत में राज्यों में सरकार बनाने के दिशा-निर्देश और स्पष्ट होने चाहिए। सबसे पहले सबसे बड़े दल या गठजोड़ के नेता को आमंत्रित करने की परंपरा को अगर सांविधानिक बाध्यता में बदला जाए, तो कई तरह के विवादों पर विराम लगाया जा सकता है। अभी जो व्यवस्था है, वह विधायकों की खरीद-फरोख्त जैसे राजनीतिक अनाचार को बढ़ाती है। भाजपा के कुछ नेताओं के इस तर्क में दम है कि राज्यों के सरकार गठन में अभी तक के ज्यादा घपले कांग्रेस शासनकाल में ही हुए हैं। लेकिन इसका यह अर्थ भी नहीं कि अब जब भाजपा को मौका मिला है, तो वह उन्हीं गलतियों को दोहराए, जिन्हें पहले कांग्रेस किया करती थी। इससे तो गलतियों और गड़बड़ियों की परंपरा जारी रहेगी, जबकि यह ऐसा मामला है, जिसमें स्वस्थ लोकतांत्रिक परंपराएं बनाने की जरूरत है।

राष्ट्रीय सहारा

Date: 15-03-17

नये भारत का विचार

प्रधानमंत्री नरेन्द्र मोदी ने पांच राज्यों के चुनाव परिणामों को "न्यू इंडिया' यानी नए हिन्दुस्तान की नई नींव के रूप में व्याख्या कर देश को नई दिशा में सोचने की पहल की है। भाजपा के केंद्रीय कार्यालय में आयोजित कार्यक्रम में मोदी ने जो कुछ कहा, उससे हम न्यू इंडिया के उनके सपनों की एक मोट-मोटी तस्वीर खींच सकते हैं। इसे उन्होंने 65 प्रतिशत युवाओं और जागरूक महिलाओं के समूह का न्यू इंडिया कहा। युवाओं की नजर में और महिलाओं के लिए न्यू इंडिया क्या हो सकता है, इनका उत्तर हमें अपने आप प्रधानमंत्री के पूर्व के भाषणों से निकालना है। इस भाषण में उन्होंने इसकी विस्तार से व्याख्या नहीं की। किंतु इतना तो हम मान सकते हैं कि युवाओं की आकांक्षाओं को जो भारत पूरा करे और महिलाओं के लिए संपूर्ण समानता एवं गरिमा का समाज बनाकर दे सके वही न्यू इंडिया होगा। प्रधानमंत्री ने कुछ बातें स्पष्ट भी कीं। उदाहरण के लिए उन्होंने कहा कि न्यू इंडिया का मतलब इस चुनाव में गरीबों की निकली आवाज है, जिसमें हमें कुछ दे दो तो आप अच्छे हो को छोड़ देना है। यानी इसकी जगह गरीब कह रहा है कि आप अवसर उपलब्ध करा दीजिए तो हम मेहनत करके अपने पैरों पर खड़े हो जाएंगे। तो न्यू

इंडिया वह होगा, जिसमें सरकारें गरीबों के लिए ज्यादा से ज्यादा अवसर उपलब्ध कराए। यदि गरीबों का उत्थान हो गया, उनने अपने सिर राष्ट्र निर्माण का कुछ बोझ ले लिया तो मध्यम वर्ग के सिर से बोझ घट जाएगा। तो न्यू इंडिया का अर्थ गरीबों को इस तरह और इतना काम का अवसर देना है कि वह राष्ट्र की शक्ति विकास में मुख्य भूमिका निभा सके। न्यू इंडिया की प्रधानमंत्री की व्याख्या में चुनावों का भावनात्मक मुद्दों से अलग हटकर विकास पर केंद्रित होना है। भावनात्मक मुद्दों पर लोग निकलकर मतदान करते रहे हैं, लेकिन विकास के मसले पर लोगों का रिकार्ड संख्या में निकलना नये इंडिया का दर्शन है। इसमें ऐसे लोग जीते हैं, जिनका चेहरा कभी टीवी पर नहीं दिखा, जिनकी खबरें भी अखबारों में नहीं छपीं, पर वे नये हिन्दुस्तान के निर्माण में कोई कमी नहीं रखेंगे। इसके लिए प्रधानमंत्री ने 2022 तक की सीमा रेखा खींचकर संकल्प लेने का आग्रह किया कि जनता, संगठनों की हर इकाई यह तय करे कि 2022 तक इस नये भारत का निर्माण कर देना है तो सपना अवश्य पूरा होगा